

अलेक्स एम. जॉर्ज

एकलव्य, भोपाल के साथ सामाजिक विज्ञान शिक्षा पर कार्य किया है। वर्तमान में स्वतंत्र शोधकर्ता के रूप में कार्यरत हैं।

शिक्षकों को किस तरह तैयार किया जाता है, इसका दूरगामी असर शिक्षा की गुणवत्ता पर पड़ता है। भारत में अध्यापक बनने की तैयारी के लिए एस.टी.सी. और बी.एड. जैसे पाठ्यक्रम संचालित किए जाते हैं। अध्यापक बनने के बाद भी उनकी अकादमिक तैयारी होती रहे इसके लिए सेवाकालीन प्रशिक्षण के कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। यह लेख अध्यापक की तैयारी के इन कार्यक्रमों की बानगी प्रस्तुत करता है और बताता है कि अध्यापक शिक्षा के यह कार्यक्रम किस तरह अकादमिक जड़ता के शिकार हो गए हैं। लेख इनकी बेहतरी के लिए नए सिरे से विचार करने की सिफारिश करता है।

जहां शिक्षक सीखते हैं

यह आलेख उन चुनौतियों को प्रस्तुत करने की कोशिश करता है जो मैंने अध्यापक-शिक्षकों के साथ कार्यशालाओं या अध्यापक-शिक्षा की कक्षाओं में बैठकर देखी हैं। यह अनुभव मैंने दो अलग-अलग कार्यक्रमों में भागीदारी के दौरान प्राप्त किए हैं।¹ इन्हें साथ-साथ रखने का मकसद यह बताना नहीं है कि यह कार्यक्रम कैसे विकसित हुए थे। इसका मकसद उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करना भी नहीं है। कार्यशालाओं या कक्षाओं के यह अवलोकन इस बात की बानगी प्रदान करते हैं कि कैसे कुछ विचार शिक्षा के विमर्श में गहरे पैठ गए हैं। आलेख में कुछ वक्तव्यों और प्रसंगों का इस्तेमाल किया गया है, जो इन प्रांतों की अध्यापक शिक्षण संस्थाओं- एस.सी.ई.आर.टी., डाइट्स से संबंधित हैं। एक प्रकरण का संबंध एन.सी.ई.आर.टी. से संबद्ध एक व्यक्ति से है।

आलेख का मकसद व्यक्तियों या संस्थाओं पर ध्यान केन्द्रित करना नहीं है। लिहाजा, मैं संस्थाओं और व्यक्तियों की पहचान जाहिर करने से बचूंगा। यकीनन, इनमें से अधिकांश व्यक्तियों का शिक्षा का अनुभव लेखक से कहीं अधिक है। वे अध्यापक-शिक्षा तंत्र के अंदर प्रशिक्षित हुए हैं और उन्होंने कई वर्षों तक अध्यापक-शिक्षा का कार्य किया है। हालांकि, इस दौरान कई प्रसंग दर्ज किए गए,

1. सुधार के ये प्रयास छत्तीसगढ़ व उत्तराखंड के डी.एड./बी.एड. कार्यक्रमों में चल रहे थे। मेरी अपनी शिरकत मात्र वर्ष 2007 से 2008 तक रही और वह भी कुछ बैठकों में उपस्थिति तक सीमित रही। लिहाजा, मैं उन प्रक्रियाओं की किसी गहरी समझ का दावा नहीं कर सकता।



मगर इस आलेख में उनमें से कुछ की ही चर्चा करेंगे। यह प्रसंग या वक्तव्य हमारी शिक्षा व्यवस्था के कुछ केन्द्रीय सरोकारों को रेखांकित करते हैं। यह सीखने के तरीकों, बच्चे को लेकर कुछ मान्यताओं और समाज के चरित्र को परिभाषित करते हैं। इन विषयों पर आमतौर पर अध्यापक-शिक्षा के सैद्धांतिक पाठ्यक्रमों में चर्चा होती है। यहां उल्लिखित तीनों ही प्रसंगों में गंभीर गलतफहमियां झलकती हैं जो अध्यापक शिक्षा में संलग्न लोगों के एक बड़े तबके में आलोचनात्मक अकादमिक सोच की कमी को दर्शाती हैं।

1. बाल-केन्द्रित...

“बाल केन्द्रित कक्षा वह होती है... जहां शिक्षक छात्र को बताता है कि उससे क्या अपेक्षा है... यह संभव है कि आपकी कक्षा में हर छात्र भागीदारी न कर रहा हो। हम अक्सर अच्छे छात्रों को संबोधित करते हैं, मगर यह सही नहीं है, हमें सुनिश्चित करना चाहिए कि हर छात्र कक्षा में भागीदारी करे। हमें कक्षा में ‘औसत बच्चे’ को संबोधित करना चाहिए। यह जरूरी है कि शिक्षक ‘कमजोर बच्चे’ को ज्यादा अभ्यास दें।...”

यह वक्तव्य क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान के एक फेकल्टी सदस्य का है जो उन्होंने एक डाइट अध्यापक-शिक्षक के इस सवाल के जवाब में दिया था कि ‘बाल केन्द्रित शिक्षा क्या होती है?’ यह जवाब आश्चर्यजनक था। पिछले 15 वर्षों में भारत में कुछ मायनों में ‘बाल केन्द्रित’ जुमला अध्यापक-शिक्षा के सीमित परिदृश्य से बाहर निकला है। और तो और, यह अखबारी लेखों का विषय भी बन चुका है। डीपीईपी के बाद के जमाने में यह जुमला यदा-कदा मीडिया में भी नजर आ जाता है। पहला आश्चर्य तो यही था कि एक डाइट शिक्षक को इस जुमले की स्पष्टता नहीं थी, जबकि उन्होंने विभिन्न सेवाकालीन कार्यक्रमों में बड़ी संख्या में स्कूली शिक्षकों को प्रशिक्षण दिया होगा। यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि वे ईमानदार थे और उन्होंने अपनी गलतफहमी को सार्वजनिक मंच पर प्रकट किया। इसके अलावा, मैंने यह देखा कि प्रश्नकर्ता मंचासीन व्यक्ति थे जो हर शब्द को लिखने की कोशिश कर रहे थे, एक तरह से कक्षा में शिक्षक की ‘सत्ता’ और ‘केन्द्रीयता’ को स्वीकार कर रहे थे, मगर क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान के फेकल्टी सदस्य द्वारा दी गई व्याख्या में कोई अकादमिक गुणवत्ता नहीं झलक रही थी। बाद में गूगल पर खोज करके मैंने पाया कि क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान के वे अध्यापक पिछले कम से कम 25 वर्षों से बी.एड. कार्यक्रम में पढ़ा रहे हैं, स्वयं न सिर्फ एम.एड. हैं बल्कि शिक्षा में डॉक्टरेट भी कर चुके हैं।

अब इस व्यक्तव्य को थोड़ा विस्तार से देखते हैं। उपरोक्त उद्धरण में उन 20 वाक्यों में से कुछ ही लिए गए हैं, जो फेकल्टी सदस्य ने कहे थे। कार्यशाला कक्ष में मैं ऐसी व्याख्या सुनने की उम्मीद नहीं कर रहा था। मोटे तौर पर, शेष दलीलें इन चंद विचारों का विस्तार ही थीं। गनीमत थी कि वक्ता ने शिक्षा मनोवैज्ञानिकों के नाम गिनाना शुरू नहीं किया और अंत में यह नहीं कहा कि पश्चिम में विकसित बाल केन्द्रित शिक्षा के ऐसे विचार शायद भारतीय संदर्भ में मौजूद न हों। अलबत्ता, इस वक्तव्य में यह धारणा कहीं नहीं झलकी कि शिक्षक-निर्देशित कक्षा का कामकाज बाल-केन्द्रित कक्षा से भिन्न होता है। यदि इस वक्तव्य को हमदर्दी से देखें, तो यह कहा जा सकता है कि वक्ता अध्यापक-शिक्षकों के समक्ष ‘बाल-केन्द्रित कक्षा’ के संदर्भ में शिक्षक की भूमिका का ‘गैर-भयजनक वर्णन’ प्रस्तुत करने की कोशिश कर रहे थे। मगर ऐसे विवरणों में बच्चे की स्वायत्त-सक्रियता (Agency) की किसी धारणा का उल्लेख सिरे से नदारद रहता है। इसमें धुंधला-सा भी यह आभास नहीं था कि बच्चे के पास अपने आसपास की दुनिया का अर्थ निकालने की क्षमता होती है और वह अपनी अंतःक्रियाओं के जरिए निरंतर अर्थ-निर्माण की प्रक्रिया में संलग्न होता है। न ही इसमें इस बात का कोई आभास था कि कक्षा में उपयोग की जाने वाली विषयवस्तु या सामग्री उस विषय के मूलभूत विचारों की समझ या परिभाषाओं

में से नहीं, बल्कि इस तरह से उभरनी चाहिए कि बच्चे उन्हें टटोल सकें। इस बात का भी कोई आभास न था कि इस तरह की शिक्षा बच्चे की दिलचस्पियों और जरूरतों का ध्यान रखती है, जो बाल विकास के सिद्धांतों पर आधारित है। यह भारतीय शैक्षिक कामकाज के विपरीत है जिसमें पाठ्यपुस्तक-चालित शिक्षक-निर्देशित कक्षाएं तथा परीक्षाएं केन्द्रीय महत्त्व रखती हैं।²

वक्ता के मन में बच्चों की श्रेणियों का एक स्पष्ट चित्र था, जो हर कक्षा में मौजूद रहेगा : उनकी मुख्तसर व्याख्या में एक और तो 'बेल कर्व' (वितरण का घंटीनुमा ग्राफ) आधारित दलील की झलक नजर आ रही थी। बच्चों को उनकी क्षमताओं के आधार पर श्रेणीबद्ध किया जाता है और यह श्रेणियां स्पष्ट परिभाषित होती हैं। उनके विवरण में यह संभावना कहीं नहीं झलकती कि हर बच्चा सीख सकता है। मगर इसमें 'अभ्यास' का आग्रह है, जिससे बच्चा सीख पाएगा। विवरण में 'खोज' या 'आनंद' जैसे अन्य लोकप्रिय शब्दों को भी कोई स्थान नहीं मिला है। अभ्यास और पुनरावृत्ति भारतीय स्कूली शिक्षा की प्रचलित पद्धति रही है और इस वजह से यह साफ नहीं है कि पूरे विमर्श में एक नया शब्द 'बाल केन्द्रित' जोड़कर किस तरह के परिवर्तन की अपेक्षा की जा रही है। यह बाल-केन्द्रित शिक्षा की अवधारणा को समझने की गंभीर विकृतियां हैं। वक्ता कोशिश यह कर रहे हैं कि अपने विचारों और सोच को एक ऐसे संदर्भ में पुनः निरूपित करें, जिसके बारे में वे आश्वस्त नहीं हैं। मगर अर्थ-निर्माण की यह प्रक्रिया शिक्षा प्रणाली के लिए घातक रही है।

2. प्राचीन भारत में स्त्रियां

आगे की चर्चा एक अध्यापक-शिक्षा कक्षा के अनुभव पर आधारित है। अध्यापक-शिक्षक और छात्र-शिक्षक दोनों का नेक इरादा वर्तमान शिक्षा और आम समाज का उद्धार करने का था। मगर वे अक्सर अलग-अलग पूर्वाग्रहों में फंसे या उद्धृत राष्ट्रवादी दलीलों में उलझते रहे। वजह यह थी कि कक्षा में आलोचनात्मक जद्दोजहद का अभाव था। कक्षा में चर्चा का विषय था 'महिलाओं की स्थिति व शिक्षा'।

इस विषय के प्रवर्तन के कई आम तरीकों में से एक यह है कि महिलाओं के सशक्तिकरण की जरूरत को उभारने के लिए समकालीन समाज में 'अनुकरणीय व्यक्तित्वों' की पहचान की जाए और उनकी सफलता का श्रेय शिक्षा को दिया जाए। समाज में 'चंद' स्कूली शिक्षा प्राप्त महिलाओं की उपस्थिति के आधार पर अधिकांश लोग आसानी से यह दलील देते हैं कि समाज 'सब' महिलाओं को बेहतर स्थिति प्रदान कर रहा है। छात्र फौरन एक सामांतर तर्क करते हैं कि वैदिक समाज में 'अपाला, गार्गी और मैत्रेयी' जैसी स्त्रियां थीं और इसका मतलब है कि उस समय महिलाओं की स्थिति अच्छी थी। मगर जब उन्होंने हाल की सदियों में महिलाओं को दी गई निम्नतर स्थिति के कारणों के साथ जूझना शुरू किया तो अति-सरलीकृत समझ उभरी। पहले, दोषारोपण की प्रक्रिया चली। एक छात्र की दलील थी कि भारत में सल्तनत और मुगल साम्राज्य स्थापित होने तक 'सब कुछ ठीक-ठाक' था। कक्षा में किसी ने इसे चुनौती नहीं दी। फिर उसने वैदिक काल की महान स्त्रियों का स्तुतिगान शुरू कर दिया। जैसा उन्होंने वर्तमान काल के संदर्भ में किया था, वैदिक काल के भी चंद अनुकरणीय व्यक्तियों के नाम गिनाना पर्याप्त समझा गया और उदाहरण के रूप में वही नाम बार-बार गिनाए गए। इस कक्षा में हिन्दू समुदाय के छात्रों का बाहुल्य था और एक मामले में तो उन्होंने यह तक कहा कि मुस्लिम समुदाय ने पूरे

2. पूरे तरीके की कई समीक्षाएं की गई हैं। इन समीक्षाओं का सारांश बर्मन एरिका (2008) द्वारा 'डीकंस्ट्रक्टिंग डेवलपमेंटल सायकॉलजी' (प्रकाशक रूटलेज) में प्रस्तुत हुआ है : खासतौर से पृष्ठ 261-288। वे कहती हैं, 'बाल केन्द्रित तरीके के केन्द्रीय तत्व पांच प्रमुख शब्दों से व्यक्त होते हैं : तैयारी, चयन, जरूरतें, खेल और खोज' (पृष्ठ 263)।

भारतीय समाज को निम्नतर हैसियत में ला पटका है।

यह संभव नहीं लगता कि कोई भी वैदिक अतीत की इन महिला विद्वानों के नामों पर सवाल उठाएगा, मगर जब उनसे वैदिक युग के पुरुष ऋषियों के नाम बताने को कहा गया, तो एक असहज चुप्पी छा गई। थोड़ा हिचकते हुए और संदेह के साथ किसी ने पूछा, “क्या व्यास वैदिक ऋषि थे?” यह विचार तो उनकी कल्पना के दायरे में ही नहीं था कि चंद्र चुनिंदा नाम जिन्हें उभारा और हमारी चेतना में उकेरा गया है और इस प्रक्रिया में अन्य महिलाओं और यहां तक कि पुरुषों के नाम भी ओझल हो गए हैं। अतीत के ऐसे सर्वग्राही स्मरण में यह मानकर चला जाता है कि ऐसे व्यक्ति/पहचानें जो इस कक्षा में फिलहाल उपस्थित हरेक का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपाला या गार्गी का नाम लेकर ऐसे लोगों के वजूद की संभावना को ओझल कर दिया जाता है, जो उस परंपरा में शामिल नहीं हैं (यह मानकर कि उनके नाम पता लगाना संभव है)।

अगला सवाल तो छात्र-शिक्षकों के लिए और भी उलझाने वाला था : वह समय या वे स्थान कौन-से हैं जहां अपाला और गार्गी की उच्चतर स्थिति की बात कही जा रही है? वे मोटे तौर पर यह बता पाए कि वह स्थान सुदूर पश्चिम में रहा होगा, जो वर्तमान भारत का पंजाब प्रांत और पाकिस्तान का कुछ क्षेत्र है, जहां माना जाता है कि वैदिक युग की घटनाएं घटी थीं। वे उस युग को आसानी से लगभग 3500 वर्ष पूर्व में स्थित कर पाए। हां, इस सवाल ने जरूर कुछ नाजुक पल निर्मित किए कि क्या वर्तमान युग में भौगोलिक रूप से अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले ‘हम’ उन ‘चंद्र’ स्त्रियों की उच्चतर हैसियत की प्रामाणिकता का दावा कर सकते हैं या ऐसा करने की जरूरत है जो इतने सुदूर अतीत में रही थीं? या हम इस बात की क्या व्याख्या करेंगे कि हमारे पास 3500 वर्ष पूर्व से लेकर करीब 1000 वर्ष पूर्व (यानी सल्तनत या मुगल साम्राज्य स्थापित होने से पहले) की अवधि में ‘गिनाने’ को कोई महिला नहीं है। कहने का मतलब है कि उन्होंने एक काल्पनिक अतीत की रचना की और मान लिया कि इसके आधार पर अविभेदित सामान्यीकरण संभव है।³

अध्यापक-शिक्षा के संदर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि जिस ढंग से सैद्धांतिक पाठ्यक्रम पढ़ाए जाते हैं जिन्हें आमतौर पर केन्द्रीय (कोर) कोर्सेज कहा जाता है, इनमें या तो ऐतिहासिक ढांचे अथवा समाज वैज्ञानिक ढांचे का उपयोग किया जाता है, इनमें विषयों को इस तरह से प्रस्तुत करने की गुंजाइश नहीं होती जिसमें आलोचनात्मक सोच का तत्व हो। यह जानकारी के नीरस पुलिंदे होते हैं, जो इस मान्यता का अनुकरण करते लगते हैं कि शिक्षा का मतलब जानकारी का संकलन है। हो सकता है कि इन्हें इस तरह विकसित किया गया हो, ताकि समकालीन सामाजिक परिस्थिति से आंख चुराई जा सके। यह छात्रों को एक काल्पनिक अतीत के निर्माण में और उन चीजों की जिम्मेदारी से मुक्त होने में मदद करते हैं जो स्कूलों में इन भावी शिक्षकों के काबू से बाहर होगी। यह सैद्धांतिक पाठ्यक्रम कुछ हद तक उस शैली के भी शिकार हो जाते हैं, जिस ढंग से समाज विज्ञान को जानकारी के पुलिंदे के रूप में समझा जाता है या स्कूलों में पढ़ाया जाता है।

3. सीखने के तरीके- एंड्रेगॉजी और ब्लूम की टेक्सॉनॉमी

यदि दो शब्द खोजने हों, जिन्होंने अध्यापक-शिक्षा में जादुई छड़ी का काम किया है, तो वे हैं एंड्रेगॉजी और ब्लूम की टेक्सॉनॉमी। फिलहाल यहां मेरा इरादा अध्यापक-शिक्षा में इन शब्दों के इस्तेमाल की

3. यह सच है कि ऐसी चर्चाएं तभी संभव हो पाती हैं जब आप उमा चक्रवर्ती के आलेख ‘व्हाटएवर हैपन्ड टू वैदिक दासी?’ (वैदिक दासी का क्या हुआ?, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) जैसी सामग्री से परिचित न हों, न कि सिर्फ आमतौर पर उपलब्ध इतिहास की पाठ्यपुस्तकों से।

सांगोपांग समीक्षा में घुसने का नहीं है। बहरहाल, गूगल खोज ने कुछ संकेत दिया कि इन शब्दों का उपयोग अधिकांशतः अध्यापक-शिक्षा से संबंधित भारतीय वेबसाइट्स पर होता है- विश्वविद्यालय के पृष्ठ, ब्लॉग्स, महाविद्यालयों की फेकल्टी के विवरण वगैरह। ये शब्द अन्य अंग्रेजी-भाषी देशों में लगभग नदारद हैं। लगता है कि दोनों शब्द एक लंबा सफर तय कर चुके हैं। इस सफर में किसी समय शिक्षा में शायद इनका सार्थक ढंग से उपयोग होता रहा है। धीरे-धीरे यह महज सीखने-सिखाने की प्रक्रिया की पेचीदगियों का स्थान लेने/छिपाने के औजार/गूढ़ शब्द/समाधान बन गए हैं। जब अध्यापक-शिक्षा की मूल मान्यताओं (Paradigms) में परिवर्तन की बात होती है, तब भी यह संभव नहीं लगता कि ये दो गूढ़ शब्द मंच से हटने वाले हैं।

यहां तक कि एक राज्य की पाठ्यचर्या प्रारूप दस्तावेज भी कहता है कि एंड्रेंगॉजी वह प्रमुख शैली है जिसके जरिए छात्र-शिक्षक अपने प्रशिक्षण कार्यक्रम में जुड़ेंगे। एंड्रेंगॉजी शब्द का उपयोग पेडेगॉजी से भेद करने के लिए किया जाता है; पेडेगॉजी वे तरीके हैं जिनसे बच्चे सीखते हैं जबकि एंड्रेंगॉजी वयस्कों के सीखने का तरीका है। मगर यदि आप दस्तावेज को थोड़ा ध्यान से पढ़ने की जहमत उठाएं तो पाएंगे कि सूची दरअसल एक इच्छा-सूची है जिसमें यह बताया गया है कि कक्षा में चाहे बच्चे हों या वयस्क, किस तरह की शैली या सीखने के अवसर प्रदान किए जाएंगे। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के बाद यह सामान्य बात हो गई है कि कई फेकल्टी सदस्य समय-समय पर 'संरचनावाद' (Constructivism) शब्द उछालेंगे। मगर उनसे पूछिए कि जिन शब्दों का उपयोग एंड्रेंगॉजी और पेडेगॉजी के विवरण में किया जाता था, उनमें और इसमें फर्क क्या है, तो वे स्वीकार करेंगे कि अंतर लगभग ना के बराबर है। बच्चे और वयस्क दोनों ही तब सबसे बढ़िया सीखते हैं जब 'सामाजिक संदर्भों से संबंध जोड़ा जाता है' या जब 'उनके पास वह अनुभव होता है जिसकी जरूरत अपने विचारों के निर्माण के लिए होती है' या 'प्रेरित करना जरूरी होता है' वगैरह। अर्थात् यह स्पष्ट हो जाता है कि गूढ़ तकनीकी शब्दों का उपयोग इसलिए नहीं किया जाता कि वे अवधारणाओं या विचारों को स्पष्टता प्रदान करते हैं, बल्कि इसलिए कि वे विचारों को आभामंडल प्रदान करते हैं।

यदि आप फेकल्टी से और बातचीत करें तो पाएंगे कि एक और स्तर पर भ्रम व्याप्त है, इससे परिदृश्य और भी विडंबनापूर्ण हो जाता है। अध्यापक-शिक्षा में एक कोर कोर्स का संबंध शिक्षा के मनोविज्ञान से है। इसमें चर्चा का एक विषय है 'सीखने के तरीके'। एक फेकल्टी सदस्य ने अनौपचारिक बातचीत में बताया कि इस अवधारणा के बारे में प्रासंगिक सामग्री प्राप्त करना एक चुनौती है। बेंजामिन ब्लूम की टेक्सॉनॉमी का उपयोग करके उन्होंने स्थिति को संभाल लिया था। उन्होंने आगे समझाया कि सीखना तीन दायरों में होता है - संवेदी क्रियात्मक, संज्ञानात्मक और कार्यकारी (सेंसरी मोटर, कॉग्निटिवी और अफेक्टिव)। जल्दी ही आपको यह समझ में आता है कि एंड्रेंगॉजी और संरचनावाद, जो वर्तमान बहस में प्रमुख शब्द हो गए हैं, ज्यादा दूर तक नहीं जाएंगे। अध्यापक-शिक्षक छात्र शिक्षकों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी ब्लूम की टेक्सॉनॉमी सुना-सुनाकर सुकून से हैं। वे शायद आज भी कोशिश कर रहे हैं कि नवीन विचारों का तालमेल उस चीज के साथ बना सकें जो उनकी जानी-पहचानी है। मैंने उनसे पूछा कि सीखने के तरीकों के संदर्भ में वे उस सूची का उपयोग क्यों नहीं करते जो एंड्रेंगॉजी के अंतर्गत बनाई गई है। उन्होंने कहा कि यह तो उन्हें कभी सूझा ही नहीं। वे इंगित कर रहे थे कि उन्हें यह स्पष्ट नहीं है कि 'सीखने के तरीकों' को संरचनावाद की तकनीकी शब्दावली या एंड्रेंगॉजी की तकनीकी शब्दावली से कैसे हासिल करें- यह सब उन्हें स्पष्ट रूप से प्रदान करना होगा जैसे ब्लूम की टेक्सॉनॉमी ने हर विषय को अनुशासनों में 'फिट' कर दिया था।

एक अन्य घटना से हमें यह सोचने में मदद मिलेगी कि एक वयस्क कक्षा या यों कहें कि एक एंड्रेंगॉजी-उन्मुखी कक्षा में क्या होता है? गतिविधियां, समूह कार्य, प्रस्तुतीकरण वगैरह को ऐसी कक्षा के

कामकाज में केन्द्रीय माना गया है। जैसे, हम एक कक्षा में देखते हैं कि गणित में आर्यभट्ट के योगदान को लेकर चार प्रस्तुतीकरण हुए। इनमें से एक नाट्य प्रस्तुति थी जिसमें मंच पर पांच व्यक्ति थे जिनमें से एक सूत्रधार था और बाकी चार जापान, इंग्लैंड, यू.एस. व भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। जाहिर है, नाटक के अंत में भारतीय व्यक्ति बाकी सबको भारतीय प्रणाली का प्रशंसक बनाने में सफल हो जाता है। यदि आप मंच पर चल रही बातचीत को ध्यान से सुनें, तो समझ में आता है कि अष्टिकांश संवाद जानकारी की पुड़िया जैसे थे, बीच-बीच में 'आहा', 'बहुत बढ़िया' या 'यह तो मुझे पता ही नहीं था' वगैरह का छिड़काव भर था। यह सही है कि छात्र-शिक्षक काफी सारी जानकारी इकट्ठी कर पाए थे और उस पर चर्चा करके पुनः प्रस्तुत कर पाए थे। मगर यह मूलभूत मान्यता ओझल होती नहीं लगती कि जानकारी ही, कक्षा प्रक्रिया का केन्द्रीय तत्व है। इसके अलावा, यह भी एक अहम् सवाल है कि सैद्धांतिक कोर्स पढ़ाते हुए ऐसी नाममात्र की गतिविधियों से क्या मदद मिलती है।

अंतिम टिप्पणियां

उपरोक्त तीन मैदानी नोट्स अवश्य ही अध्यापक-शिक्षा की अकादमिक चुनौतियों के पूरे परिदृश्य हो प्रस्तुत नहीं करते। मगर इनसे लगता है कि जिस ढंग से बच्चे, सीखने की प्रक्रिया जैसे विचारों या सामाजिक पहलुओं को अध्यापक-शिक्षा कार्यक्रम में उठाया जाता है, उसमें एक अकादमिक संजीदगी का अभाव है। मैंने जो सरोकार चिह्नित किए हैं, वे अध्यापक-शिक्षा के मूलभूत सैद्धांतिक पाठ्यक्रमों में पढ़ाए जाते हैं। ये पाठ्यक्रम समाज विज्ञान या मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य से विकसित किए गए हैं। मोटे तौर पर, हम कह सकते हैं कि ये प्रसंग हमें अध्यापक-शिक्षा में सैद्धांतिक पाठ्यक्रम के अध्यापन के उन्मुखीकरण/परिप्रेक्ष्य की एक झलक देते हैं। प्रत्येक मामले में विचारों/अवधारणाओं का एक सेट उठाया जाता है और उसे बगैर सोचे-समझे ऐसी स्थितियों में फिट किया जाता है जिनसे फेकल्टी परिचित है।

शिक्षा के समाजशास्त्र के कोर्स में जो विषय हैं, उनमें ऐसा कोई नजरिया नहीं है कि शिक्षक को व्यापक समाज के साथ जुड़ने को तैयार किया जाए। 'महिलाओं की स्थिति' और बच्चों को 'औसत' या 'कमजोर' जैसी श्रेणियों में वर्गीकृत करना, दोनों ही मामलों में हम देखते हैं कि ऊंच-नीच का एक सशक्त भाव है कि जिसे अदृश्य पाठ्यचर्या के रूप में संप्रेषित किया जाता है। इन्हें तथ्यों या सामाजिक यथार्थ के रूप में पेश किया जाता है। लगभग यही बात पेडेगॉजी संबंधी चर्चा में भी दिखती है। 'अभ्यास' और रटंत पद्धति भारतीय स्कूल व्यवस्था में सीखने के पसंदीदा तरीके रहे हैं। स्कूल शिक्षा के इस आदर्श में जानकारी का केन्द्रीय महत्त्व रहा है। लिहाजा, जब सीखने के तरीकों के लेकर विविध परिप्रेक्ष्य जोड़ने की कोशिश होती है, तब भी जानकारी का दामन छोड़ा नहीं जाता।

फिलहाल, मुझे लगता है कि अध्यापक-शिक्षा व्यवस्था में यह अकादमिक नाकामी मुख्यतः इसलिए हुई है कि इन संस्थानों में अच्छी गुणवत्ता की सामग्री का अभाव है और फेकल्टी का संपर्क बहुत सीमित दुनिया से करवाया जाता है। यह कहना आसान है कि अध्यापक-शिक्षकों को स्वायत्तता दी जानी चाहिए मगर उतनी ही महत्त्वपूर्ण यह बात है कि जिस तरह की घटिया गुणवत्ता की सामग्री के साथ ये प्रशिक्षण सम्पन्न होते हैं, उसके चलते हमने एक दुष्क्र बना दिया है। इससे निपटने के लिए मात्र पाठ्यचर्या के ढांचे को फिर से तैयार करने या नीतिगत पक्षों पर समय लगाने से काम नहीं चलेगा। इसके लिए सार्थक/प्रासंगिक सामग्री उपलब्ध करानी होगी और ऐसे अवसर पैदा करने होंगे कि अध्यापक-शिक्षा की गहराई में पैठे इन नजरियों को भुलाया जा सके। ♦